International Journal of Information Movement Vol.I Issue VIII (December 2016)

Website: www.ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 138-144

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों में छुआछूत की समस्या और सामाजिक समानता का प्रश्न

सीमा
शोधार्थी, पीएच.डी. (हिन्दी)
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

छुआछूत की समस्या, सामाजिक समानता कायम करने में बहुत बड़ी बाधा है। वर्ण व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज में विभिन्न जातियों का अपना सामाजिक स्तर है। इस सामाजिक स्तर में जहाँ उच्च जातियों के लिए कदम–कदम पर सम्मान है वहीं निम्न जातियों के लिए कदम–कदम पर अपमान। समाज की सवर्ण जातियाँ, अवर्ण जातियों को बराबरी का दर्जा नहीं देती, उल्टे उन्हें तरह–तरह से अपमानित करती हैं। यही नहीं सवर्ण जातियाँ इनको समय–समय पर अछूत भी घोषित करती रहती है।

उत्तर भारत में गाँवों में अक्सर देखा गया है कि हरिजनों और अछूतों की बस्ती, सवर्ण बस्ती के पश्चिम या दक्षिण दिशा में कुछ दूरी पर है। दूरी के कारण इन अछूत बस्तियों से उठने वाली दुर्गन्ध युक्त हवा सवर्ण बस्तियों की ओर नहीं जाती। 'अलग–अलग वैतरणी में' अछूतों की बस्ती चमटोल करैता गाँव के दक्षिण ओर है। गाँव में तलैया है जिसमें गाँव का कचरा और गंदा पानी इकट्ठा होता रहता है। इस तलैया के दक्खिन कंगार पर करैता की चमरौटी आबाद है। गाँव केक बड़े लोगों से 'नान्ह लोगों' को यह तलैया अलग करती है। इस तलैया के उत्तर तरफ सवर्ण और दक्षिण तरफ शूद्र बसा दिये गये हैं। यह खाईनुमा तलैया जरूर बाद में बनी होगी क्योंकि गाँव वालों को लगातार डर रहा होगा कि कहीं किसी दिन उनसे सट न जाये।

आजादी के बाद सामाजिक न्याय के ढेर सारे नारों के बावजूद हरिजनों और अछूतों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। पहले भी ये सवर्णों के हाथों पिटते थे, अब भी पिटते हैं। जो सवर्ण अपनी जाति–कुल की श्रेष्ठता का गान करते हैं वही लोग चमारिनों के साथ व्याभिचार करते हुए रंगे हाथों पकड़े जाते हैं। उनके साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने में उन्हें छूत नहीं लगती। शिव प्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग–अलग वैतरणी' में सुरजू सिंह, सगुनी को भोगते हुए सरेगाम हरिजन बस्ती के लोगों द्वारा पकड़े जाते हैं। दोनों के बीच प्रेम का भाव नहीं है। यहाँ सुरजू सिंह की वासना है और सुगनी की आर्थिक लाचारी। यदि प्रेम का भाव महत्त्वपूर्ण होता तो अछूत स्त्री और सवर्ण पुरुष का ही प्रेम व्यंजित न होता। यह सवर्ण स्त्री और अछूत पुरुष में भी बदल सकता है। परन्तु ऐसा नहीं होता। हमेशा दलित लड़कियाँ ही अपनी विवशता के चलते उच्च जाति की वासना का शिकार होती है। 'अलग–अलग वैतरणी' में सुरजू सिंह 'सुगनी' को सिर्फ इसलिये भोगते हैं कि वह गरीब है, लाचार है। उसे वे अपनाना इसलिए नहीं चाहते क्योंकि वह हरिजन है, अछूत है। विडम्बना यह है कि सुरजू सिंह को उसके साथ यौन सम्बन्ध कायम करने में छूत नहीं लगती किन्तु उसे अपनाने में सामाजिक प्रतिष्ठा का सवाल खड़ा हो जाता है। धीरे–धीरे दलितों–अछूतों के अन्दर भी सम्मान व समानता के साथ जिन्दगी जीने की चेतना उभरती है।

यही कारण है कि सुरजू सिंह और सुगनी को एक साथ हम बिस्तर की स्थिति में पकड़े जाने पर चौधरियों की बटोर यह फैसला लेती है कि ''सुरजू सिंह कल सुबह सुगनी को अपनी पत्नी समझकर खुद आकर चमरौटी से ले जाएँ, नहीं कल शाम को चमार लोग सुगनी को ले जाकर उनके घर बैठा आएँगे।''[1] ठाकुर सुरजू सिंह के घर की ओर चमरौटी का बढ़ता जुलूस, अपमान के विरुद्ध चमारों की एकजुटता व संघर्ष का प्रमाण है। इस संघर्ष में वे भले ही न सफल हुए हों किन्तु सवर्ण समाज को यह अहसास तो करा ही देते हैं कि अब वे इस तरह के सामाजिक अपमान को सह नहीं सकते। उसके लिए मर–मिट भी सकते हैं।

'अलग–अलग वैतरणी' में केवल अछूत जातियाँ ही नहीं बल्कि पिछड़ी जातियाँ भी सामाजिक असमानता के दंश से पीड़ित हैं। लोकतंत्र में बढ़ती पिछड़ी जातियों की शक्ति, सामाजिक असमानता एवं अगड़ी जाति की उच्च कुलोत्पन्नता के विरुद्ध कड़ी चुनौती पेश करती है। सुखदेव राम का सभापति चुना जाना पिछड़ी जातियों के लिए सम्मान की बात है। ''जिस गाँव में यादव वंशी चारपाई पर नहीं बैठ पाते वहाँ एक यादव मसलंद पर बैठ गया।''[2] यादव जाति की शक्ति का बढ़ना एक तरह से सामन्ती शक्ति का कमजोर होना है। इसीलिए ये लोग जमींदार, मालिक या उच्च जाति के लोगों से सीधे लड़ने लगे हैं। केवल इतना ही नहीं, निम्न जातियों को शोषण के विरुद्ध लामबन्द करने में भी इनकी सक्रिय भूमिका है। उपन्यास में जगेसर सामाजिक असमानता से जुड़े प्रश्नों को उठाते हैं। सवर्ण समाज के सामने इन प्रश्नों को वे इसलिए भी उठा पाते हैं कि एक तो वे यादव है, दूसरे सिपाही जैसे सरकारी पद पर भी हैं। इस प्रकार उनकी सामाजिक आर्थिक सम्पन्नता उन्हें सवर्ण समाज के विरुद्ध चुनौती देने में समर्थ बना देती है।

'अलग–अलग वैतरणी' में वर्गगत भेद–भाव कम जातिगत भेदभाव अधिक देखने को मिलता है। समाज की पिछड़ी जातियाँ जहाँ अपनी प्रतिष्ठा व सामाजिक समानता के लिए सवर्ण समाज से सीधे–सीधे लड़ जाती हैं, वहीं अछूत जातियाँ अछूत ही रह जाती हैं। ये समाज के इतने लाचार लोग हैं कि सवर्ण समाज के दमन का प्रतिरोध भी नहीं कर पाते।

'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास में छुआ–छूत की समस्या और सामाजिक असमानता से जुड़े विभिन्न प्रश्न देखने को मिलते हैं। यहाँ उपन्यास का नायक रामानन्द ब्राह्मण होते हुए भी छुआछूत नहीं मानता और सामाजिक समानता कायम करने की हरसम्भव कोशिश करता है। यही कारण है कि वह बिना किसी भेदभाव के हरिजन, माझी ओर भंगियों के यहाँ खाना खाता है तथा हरिजन लड़की के साथ सवर्ण छात्रों द्वारा बलात्कार किए जाने पर लड़की का पूरा साथ देता है। रामानन्द के व्यक्तित्व में एक क्रांतिकारी, प्रगतिशील चेतना देखने को मिलती है जिसके चलते वह स्वर्ण होते हुए भी सवर्ण समाज की पोंगा पंथी एवं भ्रष्ट आचरण का विरोध करता है तथा समाज के अछूत, दबे–कुचले, शोषित लोगों के प्रति सहानुभूति रखता है।

झूरी के घर खाना खाने या रज्जो के घर चाय पीने पर अस्सी के ब्राह्मण समाज द्वारा रामानन्द की कटु आलोचना की जाती है। सामाजिक समानता के प्रश्न पर विचार करते हुए वह सोचता है– ''सिर्फ गरीबी की मात्र के अलावा जो शायद हमसे अधिक है, इसलिए उसके निशान घर–आँगन, बासन–बरतन, चारपाई–बिस्तर पर साफ उभरते हैं, वरना चमार

Website: www.ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 138-144

और ब्राह्मण की दिनचर्या और समस्याओं में कहीं कुछ अन्तर नहीं है। ये मजूर हैं, इसलिए सीधे हैं, आचरण में वह संस्कार नहीं है, बाकी तो सब एक जैसा ही है। संस्कार क्या पैसे की देन नहीं होते?''[3] किशोर की बहन रज्जो के साथ सवर्ण जाति के छात्र बलात्कार इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि वह असहाय, गरीब एवं लाचार हरिजन है। उस समाज के लोग इनका प्रतिरोध नहीं कर सकते। बलात्कार से पीड़ित रज्जो रो–रो कर कहती है– ''हम लोग गरीब हैं। हरिजन हैं। इसी से क्या हमारी इज्जत का कोई मोल नहीं है। दुनियाँ शील को भी जाति के तराजू पर तौलती है। हरिजन लड़की के शील से ब्राह्मण लड़की के शील का ज्यादा मोल आंका जाता है। आँको! मुझे मलाल नहीं। पर हमारे शील के टूटने–फूटने की भी वैसी ही पीड़ा होती है, वैसी ही हूक उठती है, वैसी ही आत्मघात की इच्छा होती है, इस पर कोई कुछ नहीं सोचता।''[4] इस समाज में अछूत–दलित स्त्रियाँ, दलितों में भी दलित हैं। उनका शोषण दोहरे स्तर पर होता है। ये खुद अपने समाज में स्त्री होने के नाते शोषित हैं और सवर्ण समाज में दलित होने के नाते।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'नीला–चाँद' में मध्यकालीन भारतीय समाज में फैली छुआ–छूत की समस्या और सामाजिक समानता से जुड़े विभिन्न प्रश्न उभरते हैं। अतीत के ये प्रश्न, मात्र अतीत के ही प्रश्न नहीं हैं। वर्तमान जीवन से भी इनका गहरा संबंध है। मध्यकालीन काशी की ये सामाजिक समस्याएँ आज की ही समस्याएँ हैं।

'नीला–चाँद' के समाज में अछूत भी सम्मान के पात्र हैं। कीर्ति वर्मा उर्फ राजा कीरत अपनी प्रजा से किसी भी तरह का भेदभाव नहीं रखता। वे निचली जाति की प्रजा से भी समानता का व्यवहार करते हैं, उनके साथ बराबरी के स्तर का व्यवहार करते हैं और उनसे सम्मान पाते हैं। उनके कष्टों को अपना कष्ट मानते हैं। यही कारण है कि समाज की ये तथाकथित निम्न जातियाँ कीरत को अपना राजा मानती हैं तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए हमेशा तत्पर रहती हैं। राजा कीरत बिना किसी भेद–भाव के सुरजू गोंड को अपना मुख्य सलाहकार बनाता है। उसे सुरजू पर इतना अधिक विश्वास है कि उन्हें अपनी रक्षा में प्रमुख रूप से रखता है।

राजा कीरत ऐसा शासक है जो राजा और प्रजा के बीच हर तरह के भेद को मिटाकर, सामाजिक समानता कायम करना चाहता है। आम जनता भी इस बात को समझती है– ''वे एक नया प्रभात लाना चाहते हैं। वे राजकीय औपचारिका को तोड़कर प्रजा के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलते रहने का व्रत ले चुके हैं। आदिवासी सुरजू गोंड को वे काका कहते हैं। बब्बर नट को चाचा कहते हैं। लोचन गोंड को वत्स कहते हैं। उनको देखकर लगता है कि अब नाना ढंग से प्रजा को चूसने वाली समान्त व्यवस्था की मृत्यु का समय आ गया।''[5]

उपन्यास में श्री माँ से जुड़े विभिन्न प्रसंग छुआ–छूत की समस्या और सामाजिक समानता के प्रश्न से सीधे जुड़े हुए हैं। श्री माँ में वह शक्ति है जो उन्हें ऊँच–नीच व छुआछूत जैसे भेदभाव से ऊपर उठा देती है। वह मानवता के कल्याण के लिए संघर्ष करती हैं। वह कभी भी ब्राह्मण–शूद्र में अन्तर नहीं करतीं। वह जब तक जीवित रहती हैं अस्पृश्यों को अपने वरदहस्त से आशीर्वाद देकर उनकी रक्षा करती रहती हैं। उनके कारण ही डोम कबीला

सम्मान से जीना सीखता है। श्रीमाँ, तिरस्कृत जातियों की जिन्दगी में सुधार चाहती हैं। श्रीमाँ का यह प्रेम, गोमती के शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है– ''वे कैवर्तों, डोमों, चाण्डालों, ग्वालों, भिक्षुओं, बीमारों, अपाहिजों को ज्यादा प्यार देती थीं। .... इसलिए महासमाधि के अवसर पर तथाकथित शूद्रों और तिरस्कृत लोगों को अपनी भेंट चढ़ाने और प्रणति निवेदन की आज्ञा दी जाए।''[6] बिना किसी भेदभाव के श्रीमाँ, भरत डोम के लड़के की प्राण रक्षा करती हैं। वे निश्चित रूप से जन साधारण की शक्ति की प्रतीक हैं। मानव मात्र के कल्याण के प्रति वह हमेशा समर्पित हैं। उन्हीं के चलते डोम कबीला सम्मान के साथ जीना सीखता है। गोमती का परिचय राजप्रसादों से कम और जनसाधारण के जीवन से अधिक है। वह स्वयं कहती है– ''बचपन में पिता की छाया हट गई। जन्म देने के बाद ही माँ जा चुकी थी। मैं जो कुछ हूँ वह राजप्रसाद से नहीं दीनों की झोंपड़ी से जुड़ने के कारण हूँ।''[7] भरत डोम अछूत हैं वे अपनी सामाजिक स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। सामाजिक दर्जे की सम्प्राप्ति उनके संघर्ष का मुख्य उद्देश्य है। माँ शीलभद्रा के सहयोग से उनका संघर्ष न केवल तीव्र होता है बल्कि लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

'नीला–चाँद' में छुआ–छूत की समस्या से लड़ने और सामाजिक समानता कायम करने का हर सम्भव प्रयास किया गया है। उपन्यास का समाज व्यापक रूप से विभाजित है। इसी विभाजित समाज को उपन्यास का नायक कीरत सिंह जोड़ता है। कीरत सिंह के माध्यम से उपन्यासकार ने यह स्पष्ट किया है कि ऐसे भेदभाव ही राष्ट्र को कमजोर करते हैं। सामाजिक समस्याओं को दूर किए बिना कोई राष्ट्र महान नहीं हो सकता।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'शैलूष' में भूमिहीन आदिवासी नट जातियों के जीवन संघर्ष के माध्यम से सामाजिक समानता से जुड़े विभिन्न प्रश्न उठते हैं। यहाँ सदियों से न्याय एवं अधिकार से वंचित नट जातियाँ सामाजिक असमानता के दंश से पीड़ित हैं। सवर्ण समाज तरह–तरह से इनका शोषण करता है। विकास के नाम पर इन्हें छला जाता है, बेघर किया जाता है। स्वाधीनता के बाद इनके अन्दर एक नयी चेतना विकसित होती है, जिससे यह लोग अपने शोषण के विरुद्ध लामबन्द होते हैं, संघर्ष करते हैं। इनके इस संघर्ष में अधिकारी, पत्रकार व समाज सेवी सहयोग करते हैं।

स्वाधीनता के बाद डॉ. लोहिया ने समाज की निम्न जातियों के अन्दर एक नई वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उसी वैचारिक क्रान्ति का प्रभाव था कि लोग समाजवाद चाहते थे। समाजवादी अर्थात् ऊँच–नीच के भेदभाव से मुक्त समरस समाज। यहाँ हरिजन और ब्राह्मण की एकता कायम करने की कोशिश भी हुई। किन्तु यह एकता जरूर थी समानता नहीं। यह एकता सत्ता पर काबिज होने के लिए थी। बाबू जगजीवन राम अछूत होते हुए भी इन्दिरा व कांग्रेस के लिए बहुत प्रिय थे। यह एकता बहुत–कुछ समाज के बसपा तथा भाजपा जैसे स्वार्थपरक गठबंधन के समान ही थी। इस तरह के गठबंधन से सामाजिक समानता कायम करने या ऊँच–नीच का भेद–भाव मिटाने में कोई सहायता मिली हो, ऐसा नहीं कह सकते। इस तरह की एकता मात्र अपने–अपने स्वार्थ सिद्धि तक ही सीमित रही। उपन्यास में देवराम कुशवाहा गठबंधन की ऐसी राजनीति को समझाते हुए कहते हैं– ''....पूर्वांचल की राजनीति वही कर सकता है जो जातिवाद को लात मारकर पूरे पूर्वांचल की गरीबी का

विश्लेषण करके जनता को जगा सके।.... अब ठाकुर–अहीर या ब्राह्मण–हरिजन का समीकरण कोई अर्थ नहीं रखता, वह व्यर्थ हो चुका है।''[8] देवराम का यह कथन आज के सन्दर्भों में व्यर्थ ही लगता है, जहाँ चारों ओर सभी लोग अपनी–अपनी जाति के उद्धार में लगे दिखते हैं। जातियों के आधार पर ही राजनीति टिकी है। राजनीति के कारण जाति–व्यवस्था और तेजी से उभर रही है।

'शैलूष' उपन्यास में आजादी के बाद भी वर्ग–भेद, जाति–भेद, वर्ण–भेद जारी हैं। चालाक लोग गरीब मासूम कबीलाई भूमिहीन लोगों को ठगते हैं। यहाँ बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो छुआ–छूत मिटाकर सामाजिक समानता कायम करना चाहते हैं, समाज को बदलना चाहते हैं। इससे सवर्ण समाज के शोषण का शिकंजा थोड़ा ढीला जरूर पड़ जाता है।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'औरत' में छुआछूत की समस्या और सामाजिक समानता से जुड़े प्रश्न, ग्रामीण परिवेश के साथ उभरते हैं। यहाँ वह समाज वर्णित है जहाँ स्त्रियाँ पुरुष वर्चस्व वाले समाज द्वारा शोषित हैं। इनको समाज बराबरी का दर्जा नहीं देता। ऐसे समाज में दलित स्त्रियाँ दोहरे शोषण की शिकार हैं। समाज में सोबरन राय जैसे लोग हैं, जो खादी सिल्क की धोती–कुर्ता टोपी में तो गाँधीवादी जनसेवक लगते हैं किन्तु इनकी चादर में गरीब, मजदूर और उनकी बहू–बेटियों के खून के दाग हैं। ऐसे समाज में एक दलित स्त्री द्वारा सामाजिक समानता का स्वप्न देखना कठिन हो जाता है।

उपन्यास में हरिजन लड़की के साथ बलात्कार इसलिए हो जाता है क्योंकि उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। प्रतिभा बंसल ने ठीक ही कहा है– ''गरीब की गाय सब दूहना चाहते हैं। कमजोर को सभी सताते हैं। अगर हरिजन ताकतवर होते जैसे करमपुरा में हैं तो तुम्हारा बाप यह पाप करने से पहले बीस बार सोचता उसे लगता कि उसकी पूजा लाठियों से होगी।''[9] निश्चित रूप से उच्चवर्गीय समाज इतना निडर हो गया है कि उसे गलत–सही का भान ही नहीं है। यहीं से उसे समाज के गरीब एवं लाचार लोगों पर अत्याचार करने की शक्ति मिल जाती है। ये लोग उस मानवीय संवेदना को ही भूल गए हैं जहाँ सभी लोग समान हैं, मनुष्य हैं।

समाज के निम्न वर्ग के कुछ लोग, निजकी आर्थिक या सामाजिक स्थिति थोड़ी बेहतर है, वे भी अपने लोगों से दूरी बनाने लगते हैं और स्वयं अपने को सुसंस्कृत मानते हैं और सवर्ण समाज की तरह व्यवहार करते हैं। उपन्यास में मुनीस हरिजन इसी सामाजिक पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहता है– ''हम हरिजन पढ़–लिखकर बड़ा आदमी बनने के सपनों में खोकर गरीबों को भुला देते हैं, जब तक बाभन, छत्री अपने साथ चारपाई पर बैठाते नहीं, जलपान नहीं कराते तब तक हरिजन युवक को लगता है कि वह अभी वह नहीं बना जो पढ़–लिखकर होना चाहिए। हम बड़ी जात के आगे दुम हिलाते कुत्तों की तरह खड़े होते हैं कि वे जरा सा प्यार के साथ हमहें सहला दें। .....हम अपनी ही कौम के गद्दार खुद बन गये हैं।''[10]

'औरत' उपन्यास में दलित स्त्रियाँ छुआछूत की समस्या को झेलती हुई सामाजिक असमानता की शिकार हैं। यहाँ सवर्ण स्त्रियाँ सामाजिक असमानता की शिकार तो जरूर हैं किन्तु उनके सामने गरीबी व छुआछूत जैसी समस्या नहीं है। इस समाज में जहाँ

दलित–अछूत स्त्रियाँ अपने शोषण का विरोध नहीं कर पाती, वहीं सवर्ण स्त्रियाँ जैसे रूपवा, चन्द्रा, सुखिया, प्रतिभा बंसल आदि सामन्ती मूल्यों से संघर्ष करती हैं, झुकती नहीं। यहाँ शिवेन्द्र जैसे सवर्ण नारीवादी चिन्तकों का स्त्रियों के समर्थन में किया गया संघर्ष भले ही किसी निष्कर्ष पर न पहुँचा हो, किन्तु इतना तो संकेत दे ही देता है कि वह समय आयेगा जब औरत को देखकर मर्द माथा झुका लेंगे। उसे रास्ता देंगे। एक लाख सोबरन भी चाहें तो बेइन्साफी और जुल्म नहीं कर पाएंगे। शायद वह समय आ रहा है जहाँ अैरत अपन अधिकारों के लिए बहुत सजग ढंग से संघर्ष करते हुए और आगे बढ़ रही है।

'दिल्ली दूर है' उपन्यास में हिन्दू–मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के बीच आपसी मतभेदों को मिटाकर सामाजिक समानता कायम करने का प्रयास किया गया है। यहाँ आनन्द वाशेक जैसे सेनापति, बाबा फरीद और सीदी मौला जैसे सूफी फकीर, ज्ञानेश्वर जैसे नाथ योगी सामाजिक समानता कायम करके एक मानवीय संस्कृति रचने की कोशिश करते हैं। यहाँ ऊँच–नीच, छूत–अछूत जैसा भेद–भाव नहीं हैं। ये लोग अलग–अलग धर्म–मजहब व मतों के होते हुए भी आपस में भाईचारे की भावना से मिलते–जुलते हैं। ये सभी सन्त पुरुष आनन्द वाशेक को बहुत प्यार देते हैं। रावल पीर और सीदी मौला मुसलमान होते हुए भी मंदिर तोड़कर बनाई गई कुतुबन–उल–इस्लाम मस्जिद को सही नहीं मानते। अमीर खुसरो भीमुसलमान होते हुए हिन्दुस्तान से बहुत प्रेम करते हैं और हिन्दुस्तानी अल्फाज का प्रयोग करते हैं। सीदी मौला बिना धर्म व जाति के भेदभाव के मानवता व सामाजिक समानता के लिए संघर्ष करते हैं। वह जनसाधारण की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझते हैं। परन्तु विडम्बना यह है कि जिस जनता के लिए वह अन्न जुटाते हैं वही जनता उनके मौत के फरमान पर चुप्पी साध लेती है। लोग ऐसे असामाजिक फरमान का विरोध नहीं करते। मृत्यु दण्ड मिलने के बावजूद भी उन्हें अपने किये पर पछतावा नहीं होता। वह दिल्ली के सुल्तान के सामने झुकते नहीं और बड़े शान से कहते हैं– ''अगर गरीब मुसलमानों को एक जून का खाना मुहैया करना जुर्म है तो मैंने वह किया है। अगर बाजरे की सूखी आधी रोटी और साग साथ खाना मेरा जुर्म है, तो वह मैंने किया है, मेरी जिन्दगी में खुदा के अलावा कोई पूँजी नहीं है, अगर रोज अजान के साथ पाँच बार नमाज अदा करना जुर्म है तो मैंने किया है।''[11] यहाँ सीदी मौला का अत्यन्त मानवीय रूप उभरकर सामने आया है। वह हर मजहब के आदमी को एक ही अंश से पैदा हुआ मानते हैं। इस प्रकार वह हर प्रकार के भेदभाव से परे मनुष्य को सामाजिक समानता की दृष्टि से देखने के पक्ष पाती हैं।

उपन्यास में रावल पीर, दयानाथ योगी, नामदेव जैसे सन्त सामाजिक एकता व समानता कायम करना चाहते हैं। ये लोग हिन्दू–मुस्लिम के बीच किसी भी प्रकार की जंग का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि इससे घृणा व भेदभाव बढ़ता है। उन्हें यह भी लगता है कि मुस्लिम शासकों के क्रिया–कलाप हिन्दू–मुस्लिम दोनों संस्कृतियों में भेद का कारण बन गये हैं। यहाँ ये लोग हिन्दू–मुस्लिम समाज के मतभेदों को मिटाकर सामाजिक समानता लाना चाहते हैं। कहना न होगा कि सांस्कृतिक क्षेत्र के ऐसे प्रयासों का प्रभाव दिल्ली के सुल्तानों और उनकी युद्धनीति पर नहीं पड़ता। वे अत्याचार एवं ध्वंश की अमानवीय नीति पर चलते रहते हैं।

आनन्द वाशेक मुस्लिम और हिन्दू समाज के बीच समन्वय स्थापित करना चाहता है। वह जानता है कि मुस्लिम शासन को भारत से मिटाया नहीं जा सकता। हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों के खात्मे के लिए वह हरसंभव प्रयास करता है। यद्यपि वह मुस्लिम शासन के आतंक से हिन्दुओं की रक्षा करने में सफल नहीं हो पाता फिर भी उनके आतंक और उत्पीड़न को कम करने में जरूर सफल होता है। वह सम्प्रदायों की हर सीमा को तोड़कर सामाजिक समानता पर आधारित एक नयी परम्परा कायम करता है।

उपन्यास में सामाजिक समानता से जुड़ा प्रश्न भारतीय परम्परा के आपसी अन्तर्विरोध के सन्दर्भ में भी उभरकर सामने आता है। यह हिन्दू समाज की परम्परागत कुरूपता है कि हमने अपने ही धर्म से जुड़े निम्न लोगों को समान दर्जा नहीं दिया। हिन्दू–समाज व संस्कृति की नंगी तस्वीर पेश करता हुआ आनन्द वाशेक कहता है। ''.....हम वसुधैव कुटुम्कम् यानी सारी दुनिया को अपना परिवार समझने का नारा क्यों न लगते रहे हों, वह हमेशा हवाई रहा है। हम खुद अपने ही अंग के बहुत–बहुत जरूरी हिस्सों को काटकर फैंक देते हैं सिर्फ यह कहकर कि यह हिस्सा कलुषित है या कि छूने लायक नहीं है, पर इस्लाम है कि उसी हिस्से को अपनाकर अपनी बराबरी का दर्जा देकर उसे एक तलवार या ढाल थमा देता है और उसे अपने उन मालिकों के जुल्म के खिलाफ उभाड़कर बदले की आग को हवा देकर ऐसा धधका देता है कि हमारे द्वारा दलित वे ही भाई–बन्धु हहम पर एक हाथ में तलवार और एक हाथ में मशाल लिए टूट पड़ते हैं।''[12] निश्चित रूप से इस्लाम ने गैरों को भी गले से लगाया। चाहे वह किसी भी मजहब, जाति, सम्प्रदाय का रहा हो। इस धर्म ने कभी भी शुद्धतावादी दृष्टिकोण नहीं रखा। इसके विपरीत हिन्दू धर्म ब्राह्मण धर्म का पर्याय बन गया। इस धर्म में ब्राह्मण जहाँ शीर्षस्थ हो गये वहीं शूद्र एवं अन्य अछूत जातियाँ हिन्दू होते हुए भी हिन्दू समाज से अलग–थलग पड़ गयीं। इन्हीं परिस्थितियों में इन अछूत जातियों के लिए इस्लाम का सामाजिक सिद्धान्त मुक्तिदाता के रूप में प्रस्तुत हुआ।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों में छुआछूत की समस्या एवं सामाजिक समानता से जुड़ा प्रश्न बराबर गूंजता रहता है। भारतीय समाज की इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से उपन्यासकार संघर्ष करता है और बेहतर मानवीय मूल्यों की खोज करता है।

संदर्भ सूची :

1. शिवप्रसाद सिंह, अलग–अलग वैतरणी, पृ. 598
2. वही, पृ. 325
3. वही, गली आगे मुड़ती है, पृ. 247
4. वही, पृ. 244–245
5. वही, नीला चांद, पृ. 538
6. वही, पृ. 419
7. वही, पृ. 397
8. शिवप्रसाद सिंह, शैलूष, पृ. 29
9. वही, औरत, पृ. 124
10. वही
11. शिवप्रसाद सिंह, दिल्ली दूर है, पृ. 577
12. वही, पृ. 588